

संगीत को सभी ललित कलाओं में श्रेष्ठ माना गया है। यह आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सशक्त कला है। ललित कलायें सृष्टि के आदिकाल से मानव की सांस्कृतिक परम्परा एवं सभ्यता के विकास में एक सशक्त भूमिका का निर्वाह करती आ रही हैं। उन कलाओं में संगीत की भूमिका आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ललित कलाओं के अन्तर्गत संगीत कला सर्वाधिक लोकप्रिय है और हृदय पर तात्कालिक प्रभाव डालने वाली कला है। संगीत कला एक जीवंत परम्परा के रूप में वैदिक युग से एक लम्बी यात्रा करते हुए एक शुद्ध पवित्र सरिता की भाँति बहती चली आ रही है। इस प्रकार संगीत की दो प्रमुख शाखाएँ अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इनमें से पहली शाखा, जिसका प्रारंभ देवताओं की स्तुति से हुआ अर्थात् मार्गी संगीत। दूसरा संगीत है— देशी संगीत या लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत।

प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में कलाकार अपनी कला को दो रूपों में अभिव्यंजित करते चले आ रहे हैं। कला अपने पृथक रूप में शास्त्रीय नियमों और परम्परा से चली आने वाली परिपाटियों का अनुसरण करती चलती है और अधिकतर उन्हीं व्यक्तियों के गले का कण्ठहार बन जाती है जो उस कला के शास्त्रीय रूप से भली-भाँति परिचित होते हैं। दूसरी कला अपने लौकिक रूप में पण्डितों की सम्पत्ति मात्र न बनकर साधारण जनता की प्रिय वस्तु बन जाती है। संगीत कला के प्रथम प्रकार के रूप को शास्त्रीय संगीत और कला के दूसरे प्रकार के रूप को लोकसंगीत कहते हैं। वर्तमान में प्रचलित ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, रागमाला, तिरवट, चतुरंग आदि गायन शैलियाँ यदि शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में आती हैं तो गीत गज़ल, भजन एवं लोकगीत इत्यादि लोकसंगीत, सरल या सुगम संगीत की श्रेणी में आते हैं, किन्तु यदि साहित्य में पूर्ण भावात्मकता एवं शास्त्र नियमों में शिथिलता हो अर्थात् न केवल शब्दों की ही प्रधानता हो वरन् स्वरों का भी पूर्ण समन्वय हो तो ऐसी संगीत परम्परा को शास्त्रीय संगीत की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है एवं वह सुगम या लोकसंगीत की श्रेणी में भी नहीं आ पाती। अतः ऐसी विधाओं को उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत रखना ही उपयुक्त

होगा यथा— ठुमरी, दादरा, होरी, चैती, कजरी, सावनी, बारहमासा आदि। इनमें से कतिपय विधाओं का प्रचलन लोक एवं उपशास्त्रीय दोनों ही सांगीतिक रूपों में होता है।

उपशास्त्रीय संगीत का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत के स्रोत से निःसृत हुआ है। शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रोक्त, उपशास्त्रीय अर्थात् शास्त्र के समीप रहने वाला। उपशास्त्रीय संगीत अर्थात् ऐसा संगीत जो शास्त्र के निकट रहे तथा जिसमें शास्त्र पालन कटिबद्धता से न होकर शिथिलता से होता हो।

जब कलाकार कला को प्रचलित रूप में प्रदर्शित करता है उस समय शास्त्रीय नियमों का पालन न करते हुए केवल साधारण जनता को कलामय, भावमय और रागमय बनाने भर में ही उसकी कला की निपुणता अन्तर्निहित रहती है। उदाहरण के लिए— संगीत कला में यदि एक ओर पण्डित ओंकारनाथ ठाकुरजी और उस्ताद फैयाज खाँ साहब की तिलवाड़े के साथ मेल स्थापित करती हुई ख्याल की गायकी के दर्शन हो रहे हैं तो दूसरी ओर इसी काल में अन्य कलाकार 'रस के भरे तोरे नैन', 'नींद हमारी ख्वाब तुम्हारे' इत्यादि कृतियों द्वारा साधारण व्यक्तियों की संगीत सम्बन्धी प्रवृत्तियों के लिए मदिरा का कार्य कर रहे हैं। उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय पक्ष से अधिक भाव—सौंदर्य एवं रस—माधुर्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भाव पक्ष पर बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम 'स्वर' ही है। ऐसे संगीत में श्रृंगारिक भावना अधिक होती है।

संगीत कला के इतिहास से अवगत होता है कि यह कला भी अनादि काल से इन्हीं दो रूपों में बराबर चली आ रही है। ध्रुपद और ख्याल भारतीय संगीतज्ञों के प्रिय विषय प्राचीन काल से चले आ रहे हैं और आज भी सुप्रसिद्ध और सुपण्डित संगीतज्ञ ख्याल की गायकी द्वारा ही श्रोतागणों की मनोवृत्तियों और संवेदनाओं को आन्दोलित करते दृष्टिगोचर होते हैं।

7 वीं व 8 वीं शताब्दी तक आते—आते राजनैतिक अस्थिरता के कारण संगीत पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। मुगल काल में मुगल आक्रमण के द्वारा सामाजिक अस्थिरता से

संगीत के विकास पर भी प्रभाव पड़ा। प्राचीन संगीत के आध्यात्मिक पक्ष व धार्मिक पक्ष में परिवर्तन आने से वह अपने पथ से भ्रष्ट होता गया एवं क्रमशः गणिकाओं के हाथों में चला गया था। इसी काल में उपशास्त्रीय गायन शैलियों का जन्म हुआ। जैसे— तुमरी, दादरा, आदि।

वर्तमान समय में उपशास्त्रीय संगीत का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया है कि प्रत्येक श्रोतागण शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति के पश्चात् उपशास्त्रीय संगीत की विधाओं को सुनना पसन्द करते हैं और ये उपशास्त्रीय विधाएँ इतनी मनमोहक है कि संगीत के जानकार और संगीत विषय से अनभिज्ञ दोनों प्रकार के श्रोताओं को विशेष आनन्द की अनुभूति कराती है उदाहरणस्वरूप ऋतुपरक उपशास्त्रीय विधाएँ लोकविधाओं से उपजी है इसलिए हर वर्ग का श्रोतागण इन विधाओं का रसास्वादन भलीभाँति कर सकता है अर्थात् उपशास्त्रीय संगीत का निर्वहन इतना लोकप्रिय हो गया है कि शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति के पश्चात् उपशास्त्रीय विधाओं का प्रयोग परिपाटी की भाँति प्रचलित हो गया है।

### **बन्दिशों पर घरानों का प्रभाव**

घराना गायन—वादन की एक विशिष्ट शैली है। संगीत का साधन मानवी आवाज है, जो रूप की भाँति भिन्न है। यही आवाज जब योग्य गुरु द्वारा संस्कारित की जाती है एवं योग्य शिष्य गहन रियाज, गूँज लालित्य, तारता स्निग्धता लाकर आवाज को संस्कारित करता है और यही आवाज जब भिन्न—भिन्न अलंकारों द्वारा स्वर बन जाती है, तब यहीं से घरानों का आर्विभाव होता है।

उपशास्त्रीय विधाओं के अन्तर्गत तुमरी विधा पर भी कहीं ना कहीं घरानों का प्रभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। चूँकि तुमरी विधा के घरानों के विषय में शोधार्थी को विशेष प्रमाण नहीं मिले है। परन्तु शोधार्थी के अनुसार कुछ विद्वानों से प्रस्तुति के समय यह सुना जाता है कि वह बनारसी शैली की तुमरी प्रस्तुत करने जा रहे है या बनारसी अंग की तुमरी

प्रस्तुत कर रहे हैं तो जो शैली या अंग है उसे घराना भी कहा जा सकता है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तुमरी की शैली या अंग इस प्रकार है –

**पूरब अंग की तुमरी** – पूर्वी उत्तर प्रदेश में जिस बोल बनाव तुमरी का प्रचार प्रसार हुआ, उसे पूरब अंग की तुमरी कहा गया। **पं. गुलशन भारती** के अनुसार – “शाजिद अली खाँ साहब पूरब अंग की तुमरी के प्रवर्तक कहे जाते हैं।”<sup>1</sup> पूरब अंग की तुमरी की बंदिश में कलाकार शब्दों में निहित भावों को विभिन्न प्रकार के स्वरों से सजाकर प्रस्तुत करता है। पूरब अंग की दो शैलियाँ अत्यधिक प्रचलित हैं –

**लखनवीं शैली** – लखनऊ में उस समय जो नज़ाकत और नफ़ासत थी वह तुमरी में भी नज़र आती थी। **पं. गुलशन भारती के अनुसार** – “लखनऊ की तुमरी में नज़ाकत और नफ़ासत बहुत है।”<sup>2</sup> लखनवीं तुमरी की बंदिशों में कलायुक्त बोल बनाव की अधिक प्रधानता थी। लखनवीं शैली पर उर्दू और अवधी भाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

**बनारसी शैली** – बनारसी तुमरी पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाये जाने वाले झूमर, कजरी, चैती, कजरी, होरी, आदि लोकगीतों का बहुत प्रभाव दिखाई देता है। बनारस अंग की तुमरी में बोल बनाव का बड़ा ही महत्व होता है एवं स्वर व साहित्य का बहुत ही सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। बनारस अंग की तुमरी बहुत ही हृदयस्पर्शी होती है, इसमें चैनदारी है और बोल-वृत्तान्त की मधुरता है। यहाँ की बोलबाजी या कहन अलग किस्म की होती है, जिसमें हूक, दर्द, पुकार आदि काकु प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। **प्रो. शारदा अभयलंकर** – “बनारसी तुमरी, पूरब अंग की तुमरी होती है, इसकी मुख्य विशेषता बोल बनाव की तुमरी है, यह भाव प्रधान है और बोलों को लेकर विस्तार किया जाता है और मैने जिस ढंग से सीखा है उसमें बिल्कुल ख्याल की तरह विस्तार होता है। तुमरी में एक स्वर को लेकर विस्तार किया जाता है। इसके अतिरिक्त तुमरी की जो अन्य विशेषतायें हैं उसमें खटका, मुर्की व टप्पे का अंग भी लिया जाता है। खासकर जो बनारस अंग की तुमरी है, कोई भी राग मिश्र खमाज ले लिया या तिलंग ले लिया, या काफ़ी ले लिया, तो यह विशेषता है कि ग्राम वाद्य अन्तर गाना

है, हम एक स्वर पर खड़े होकर दूसरे रागों की छाया दिखाते हैं। इसका प्रयोग हम जैसे ख्याल में होता है वैसे ही तुमरी में करते हैं।”<sup>3</sup>

**पंजाब अंग की तुमरी** – पूरब अंग की तुमरी में पंजाब के लोकसंगीत का रंग देते हुए उसे वैचित्र्यपूर्ण बनाने से ही तुमरी गान की पंजाबी शैली विकसित हुई है। पंजाब अंग से गाई जाने वाली तुमरियों में बंदिशें तो पूरब अंग की तुमरियों की भाँति ब्रज, भोजपुरी आदि भाषाओं में रचित होती हैं परन्तु उनकी गायकी में पंजाबी लोकसंगीत का प्रभाव रहता है। स्वर वैचित्र्य, कण, खटका, मुर्की और टप्पा शैली की छोटी-छोटी खटकेदार तानों का प्रयोग पंजाब अंग की तुमरी की विशेषता है।

तुमरी पर भले ही घराने का प्रमाण परिलक्षित नहीं होता परन्तु टप्पा पर घरानों का प्रभाव अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। टप्पा के कुछ घराने भी प्रचलित हैं जो कि इस प्रकार हैं –

#### **ग्वालियर व बनारस घराने का टप्पा**

शोरी मियां ने जब टप्पा गायन शैली का आविष्कार किया तो इसने धीरे-धीरे लोकप्रियता प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दी।

ग्वालियर घराने की मुख्य विशेषता इसके ख्याल गायन में है परन्तु ये कलाकार टप्पा, तराना, अष्टपदी, टप्पख्याल, टप्पतराना आदि गाने में भी निपुण थे। पंजाबी लोकगीतों से चलता-चलता टप्पा लखनऊ व बनारस में पहुँचा और बाद में यह ग्वालियर में लोकप्रिय हुआ। महाराष्ट्र के देवजी बुआ लखनऊ टप्पा सीखने के बाद में ग्वालियर आकर टप्पे को जनप्रिय बनाया।

देवजी बुआ के शिष्यों ने बाद में टप्पा शैली को महाराष्ट्र में लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार टप्पा गायन शैली ने ग्वालियर व महाराष्ट्र में लोकप्रियता हासिल की। आज भी ग्वालियर घराने के गायकों में हम ऐसे अलंकार मुख्यतः पाते हैं जो टप्पा शैली में प्रयोजनीय थे जैसे खटका, मुर्की, गिटकरी आदि।

बनारस में टप्पा लखनऊ में जनप्रियता प्राप्त करने के बाद आया। शोरी मियां व उनके शिष्यों के कारण यह शैली इन दोनों प्रान्तों में खूब पनपी। लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह के समय में भी ख्यालों को भी टप्पा अंग से गाने का काफी प्रचलन था, जिन्हें टप्प ख्यालिए कहा जाता था। टप्पा अंग से तुमरी भी गाई जाती थी और उन्हें टप्पा तुमरी कहते थे। दादरा लोकसंगीत और सुगम संगीत की ओर बढ़ती हुई गायन शैली है, इसलिए उसे घरानों की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार कजरी, चैती, होरी भी लोकसंगीत से ही उपजी है, इसलिए इन विधाओं पर भी घरानों का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु अब ये विधाएँ उपशास्त्रीय संगीत जगत में पूर्णतः स्थापित हो चुकी है।

इस प्रकार उपशास्त्रीय विधाओं की बन्दिशों पर घरानों का प्रभाव न्यूनतम है जो कि सिर्फ तुमरी और टप्पा की बन्दिशों पर ही दिखाई देता है।

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर प्रमुख रूप से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए —

1. कुछ उपशास्त्रीय विधायें लोकसंगीत से उपजी है।
2. बंदिश के द्वारा ही संगीत विधाओं में नित नवीन दिशा का बोध होता है।
3. बंदिश के द्वारा राग को एक रूपरेखा प्राप्त हो जाती है।
4. उपशास्त्रीय विधाओं में विविध प्रकार के स्वर—साहित्य संयोजन से विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है।
5. उपशास्त्रीय विधाओं में विविध प्रकार के स्वर—साहित्य संयोजन से विभिन्न भावों की निष्पत्ति होती है।
6. उपशास्त्रीय विधाओं में विभिन्न काकु प्रयोग से भिन्न—भिन्न भावों की पुष्टि होती है।
7. उपशास्त्रीय विधाओं में विभिन्न काकु प्रयोग से विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है।
8. भिन्न—भिन्न उपशास्त्रीय विधाओं के अनुरूप रागों का चयन संभाव्य है।
9. भिन्न—भिन्न उपशास्त्रीय विधाओं के अनुरूप तालों का चयन संभाव्य है।

10. उपशास्त्रीय विधाओं में लय के माध्यम से विशेष रस की निष्पत्ति होती है।
11. साहित्य रस के अनुरूप प्रस्तुति के मध्य भी रागों में परिवर्तन होता है।
12. विधा के अनुसार अधिकतर चंचल प्रकृति की तालों का प्रयोग होता है। जैसे – दीपचंदी, कहरवा, दादरा आदि।
13. इसी प्रकार रागों में भी चंचल प्रकृति के रागों का प्रयोग होता है।
- 14.. ऋतुपरक उपशास्त्रीय विधाओं में ऋतु के अनुसार स्वर एवं शब्दों का चयन होता है तथा उनके अनुरूप ही रस निष्पादन होता है।
15. भिन्न-भिन्न बंदिशों पर भिन्न-भिन्न घरानों की विशेषताओं का प्रभाव होता है।
16. उपशास्त्रीय विधाओं पर भी कहीं ना कहीं घरानों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जो कि न्यूनतम है।

## सन्दर्भ सूची

1. साक्षात्कार – पं. गुलशन भारती – दिनांक – 15-10-2014
2. वहीं
3. साक्षात्कार – प्रो. शारदा अभयकर – दिनांक – 12-06-2014